अध्याय 4

व्यक्ति और समाज

नीतिशास्त्र का अध्ययन करने पर आपने पिछले अध्यायों में जाना कि यह सामाजिक जीवन जीने वाले मनुष्यों के आचरण के मूल्यांकन के लिए मापदण्डों की स्थापना करता है। समाज के अभाव में हम मनुष्य का विचार तो कर सकते है परन्तु उसके आचरण की बात समाज में रहते हुए ही की जा सकती है। आचरण मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों से बनता है। ऐच्छिक कर्म वे कर्म हैं जिनका चुनाव व्यक्ति अपने स्वतंत्र विवेक से करता है। कर्म के चुनाव, कर्तव्य, चरित्र, नैतिक उत्तरदायित्व इत्यादि चर्चाएँ तभी की जा सकती है जब मनुष्य सामाजिक जीवन व्यतीत करे। अरस्तु ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में वह लिखता है – ''जो मनुष्य समाज में नहीं रहता वह वास्तव में मनुष्य न होकर या तो पशु है या देवता।''

हम विज्ञान की पुस्तकों में पढ़ते है कि पशुओं व अन्य जीवों में भी समूह में रहने की प्रवृत्ति होती है परन्तु उन्हें नैतिक कर्ता नहीं कहा जाता है क्योंकि कर्म करने अथवा नहीं करने के स्वतन्त्र विवेक की शक्ति उनमें नहीं होती। वे सहज **(Instinctive)** व्यवहार करते है परन्तु मनुष्य सोच समझकर व्यवहार करता है।

व्यक्ति और समाज का संबंध घनिष्ठ माना जाता है। समाज व्यक्तियों से ही बनता है परन्तु समाज से अलग उसका एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी होता है। यह व्यक्तित्व समाज के अभाव में विकसित नहीं हो सकता है परन्तु न तो व्यक्ति को समाज का साधन मात्र समझा जा सकता है और न ही उसके किसी ऐसे कर्म को जो समाज के हित के लिये नुकसानदेह हो को उचित माना जा सकता है। इस प्रकार नीतिशास्त्र में भी अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति व्यक्ति एवं समाज के पारस्परिक संबंध का अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति एवं समाज के इस संबंध में अधिकार एवं कर्तव्यों का विचार सर्वप्रमुख है क्योंकि इनके मध्य संघर्ष एक व्यावहारिक समस्या है जिसका सम्पूर्ण समाधान कानून से नहीं किया जा सकता। कानून के निर्धारण, कानून के प्रति सम्मान और व्यक्तिगत तथा सामाजिक हित में संघर्ष के समाधान के लिए अधिकार एवं कर्तव्यों के स्वरूप पर विचार, मनुष्य की संकल्प की स्वतंत्रता व नैतिक उत्तरदायित्व की धारणाओं तथा दण्ड के सिद्धान्तों के बारे में जानना जरूरी है। इस अध्याय में इन्हीं का अध्ययन किया जायेगा जो व्यावहारिक नीतिशास्त्र का क्षेत्र है। व्यावहारिक नीतिशास्त्र हमें जीवन की समस्याओं के समाधान हेतु मार्गदर्शन देता है।

4.01 अधिकार एवं कर्तव्य

व्यक्ति अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए समाज पर निर्भर होता है साथ ही समाज व्यक्तियों के विकास से उन्नत व समृद्ध होता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि व्यक्ति एवं समाज न सिर्फ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है अपितु परस्पर निर्भर भी हैं। यह निर्भरता ही अधिकार व कर्तव्य की धारणा है। अधिकार वह न्यायसंगत व उचित मांग है जो व्यक्ति को अपने नैसर्गिक विकास के लिए आवश्यक होती है, और कर्तव्य, समाज को बनाए रखने के लिए व, इस अधिकार की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए व्यक्ति की जिम्मेदारी है।

अधिकार और कर्तव्य सापेक्ष धारणाएँ हैं जिनका सार्थक विचार समाज के ही संदर्भ में है। समाज और व्यक्ति का सर्वांगीण विकास तभी सम्भव है जब अधिकार एवं कर्तव्यों में संतुलन हो। एक नैतिक रूप

से विकसित समाज अपने सदस्यों की उचित मांगे स्वीकार भी करता है और कर्तव्य पालन की अपेक्षा भी करता है। इस प्रकार कर्तव्य व अधिकार परस्पर सम्बन्धित मालूम होते है। इनके सम्बन्ध को जानने से पूर्व इनके स्वरूप व प्रकार पर चर्चा आवश्यक है।

4.1.1 अधिकार

''अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत, व्यक्तियों की वे उचित माँगे हैं जो उसके स्वतन्त्र विकास हेतु आवश्यक है।''

यहाँ स्वतन्त्र विकास का अर्थ शर्तहीनता नहीं है। प्रत्येक समाज कुछ शर्तों के आधार पर ही अधिकार देता है। यदि बिना किसी शर्त के सिर्फ अधिकार दे दियें जाय तो समाज नामक संस्था स्वयं ही ध्वस्त हो जायेगी और समाज का नष्ट होना व्यक्ति के विकास एवं जीवन की रक्षा के प्रति ही खतरा बन जायेगा। अधिकार किसी समाज के नागरिकों की उचित माँगे है परन्तु ये सामाजिक हित के प्रतिकूल नहीं हो सकते। समाज में अनेक सदस्य होते है। सभी की इच्छाओं, आकांक्षाओं एवं रूचियों में भेद होता है परन्तु ऐसी इच्छाएँ, रूचियाँ या महत्त्वकांक्षाऐं जो दूसरे लोगो के जीवन के प्रतिकूल हो वे स्वीकार नहीं की जा सकती। इस प्रकार की अनुमति समाज के लिए आत्मघाती कदम होगा। अतः उचित यही है कि व्यक्ति को वही करने की अनुमति हो जो सभी सदस्यों व समाज के हित में अनुकूल हो। अकेले व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता। अधिकार हमेशा समाज के सदस्य के रूप में ही प्रदान किये जाते है इसलिए आवश्यक है कि अधिकारों का प्रयोग सामान्य हित अथवा समाज के हित में ही किया जाए। हमें अधिकारों की स्वतंत्रता है स्वच्छंदता नहीं। व्यक्ति को अपने विवेक का इस्तेमाल करते हुए औचित्यपूर्ण ढंग से ही अपने अधिकारों का उपयोग करना चाहिए यही उसका नागरिक धर्म है। जैसे – भारत के नागरिक होने के नाते हमें यहाँ की सार्वजनिक सम्पत्ति का इस्तेमाल करने का अधिकार है परन्तु इस्तेमाल करते समय इसे क्षति या नुकसान नहीं पहुँचे यह भी हमे ध्यान रखना चाहिए। इससे अन्य लोगों को भी इस अधिकार का प्रयोग करने को मिलेगा और हमें भी भविष्य में ये अच्छी अवस्था में प्रयोग करने हेतु प्राप्त होते रहेंगे।

समाज में हमे जो अधिकार प्राप्त होते है उन्हें दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है –

(1) कानूनी अधिकार (2) नैतिक अधिकार

राज्य लोगों के विकास एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कुछ अधिकारों को कानून का रूप देता है जिनका उल्लघंन करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है। ये कानूनी अधिकार होते है। जैसे शोषण के विरूद्ध अधिकार। परन्तु सभी अधिकारों को कानूनी रूप देना सम्भव भी नहीं होता ना ही यह हमारी गरिमा के अनुकूल है। हम नैतिक प्राणी है इसलिए हमें नियमों का पालन अपनी आन्तरिक इच्छा से भी करना चाहिए। नैतिक अधिकार वे अधिकार है जो सामाज द्वारा स्वीकृत होते है इनके लिए कोई कानून या दण्ड का प्रावधान नहीं होता। मनुष्य का अन्तर्विवेक और सामाजिक निंदा का भय ही इनका पालन करवाता है। जैसे वृद्ध माता पिता द्वारा अपने बच्चों से देखभाल का अधिकार।

4.1.2 मूल अधिकार

मूल अधिकार वे अधिकार है जिनसे वंचित करने पर व्यक्ति न तो अपना विकास कर सकता है और न ही समाज के कल्याण में कोई योगदान कर सकता है। अधिकतर विचारक इन अधिकारों को स्वीकार करते है। इन अधिकारों को मौलिक नैतिक अधिकार कहा जाता है। वैधानिक या कानूनी अधिकारों के रूप में भी इन्हें स्वीकारा जाता है।

(1) जीने का अधिकार (Right to live) - किसी भी नैतिक समाज में यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति को जीवन जीने से वंचित नहीं किया जाए। यह प्राथमिक अधिकार है इसे प्राप्त करके ही व्यक्ति अपना विकास तथा समाज के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति कर सकता है। जीने का अधिकार, आत्महत्या व हत्या दोनों को अनुचित मानना है।

(2) स्वतंत्रता का अधिकार (Right of freedom) - जीवन का होना मात्र ही विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। इसे अपने सर्वांगीण विकास के लिए इच्छा स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने का अवसर मिलना चाहिए। इच्छा स्वातंत्र्य मनमर्जी नहीं है। यह सीमित स्वतन्त्रता है जो एक सुव्यवस्थित राज्य में वही तक होती है जहाँ दूसरों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित न हो।

(3) संपत्ति का अधिकार (Right of Property) - प्रत्येक व्यक्ति को विकास के लिए भौतिक साधनों की आवश्यकता होती है अतः उसे उचित सीमा तक सम्पत्ति अर्जित करने एवं स्वामित्व का अवसर मिलना चाहिए। इस अधिकार का प्रतिबंध सामाजिक कल्याण तथा ईमानदारी से धन कमाने के नैतिक कर्तव्यों से जुड़ा है।

(4) समझौते की पूर्ति का अधिकार (Right of Contract) - निजी सम्पत्ति रखने का अधिकार सामाजिक कर्तव्यों के पालन से जुड़ा है। जब हम समाज में रहकर अपन विकास करते है तो पारस्परिक समझौते के अनुसार रहना होता है जिसमें कठिनाई की स्थिति में समर्थ व्यक्ति से उचित समय पर सहायता प्राप्त करने का अधिकार होता है।

(5) शिक्षा का अधिकार – (Right to Education) - शिक्षा ही वह साधन है जिससे मनुष्य अपनी क्षमताओं का विकास एवं सदुपयोग कर सकता है। अतः अपनी संभावनाओं के अनुरूप मनुष्य को बौद्धिक विकास का अवसर मिलना नैतिक अधिकार है।

4.1.3 कर्तव्य

''कर्तव्य वे उचित कर्म कहे जाते हैं जिन्हें करने के लिए मनुष्य बाध्यता का अनुभव करता है।''

कर्तव्यों का अधिकारों से सम्बन्ध है इसलिए कर्तव्य को समाज द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों के ऋण के रूप में भी माना जाता है। हमें अपने सर्वांगीण विकास का अवसर जिस समाज में मिलता है वहाँ अधिकारों का उपभोग को करते हुए कुछ नैतिक बाध्यताओं का भी अनुभव किया जाता है। ये नैतिक बाध्यताएँ हमारी स्वाभाविक इच्छा से प्रेरित नहीं होती इनका पालन करने का हमें अभ्यास करना पड़ता है। कर्तव्यों के पालन का प्रभाव कर्ता के बजाय अन्य व्यक्ति या समाज पर पड़ता है परन्तु कर्तव्य पालन करने पर हमें सन्तोष का अनुभव होता है अतः कर्तव्य पालन के प्रति हमारे मन में नैतिक अनुमोदन की भावना होती है और जब हम कर्तव्य पालन में असफल होते है तो इस नैतिक अनुमोदन की भावना का अभाव होता है तथा नैतिक रूप से संवेदनशील व्यक्ति में आत्मग्लानि भी होती है।

समाज में हमारे लिए कई उचित कर्म होते हैं परन्तु सभी को करने के लिए हम बाध्य नहीं होते। कर्तव्य व उचित कर्म में यही भेद है कि कर्तव्य उचित कर्म होने के साथ बाध्यकारी भी होते हैं। जबकि वे उचित कर्म जो बाध्यकारी नहीं होते उन्हें कर्तव्य नहीं कहा जाता। किसी परिस्थिति में दो या दो से अधिक कर्म करना मनुष्य के लिए उचित हो सकता है परन्तु किसी समय विशेष में कर्तव्य सिर्फ एक ही होता है। कभी–कभी ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे कर्तव्यों में संघर्ष होता है, जैसे सत्य बोलना भी हमारा कर्तव्य है तथा किसी की जान बचाना भी हमारा कर्तव्य है यदि दोनों में संघर्ष हो तो चयन मुश्किल हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में कोई निश्चित नियम बनाकर समाधान नहीं ढूंढा जा सकता है क्योंकि मानवीय परिस्थितियाँ बहुत जटिल होती हैं परन्तु व्यक्तिगत राग–द्वेष छोडकर तटस्थता के साथ व्यापक सामाजिक हित एवं विवेकपूर्ण अन्तदृष्टि से कर्तव्य का निर्धारण किया जा सकता है।

4.1.4 मूल कर्तव्य

मूल नैतिक अधिकारों की भाँति कुछ मूल कर्तव्यों को भी स्वीकारा जाता है जो इस प्रकार से है

(1) जीवन का सम्मान – प्रत्येक व्यक्ति को अपने एवं दूसरों के जीवन का सम्मान करना चाहिए। इस दृष्टि से आत्महत्या एवं हत्या दोनों अनैतिक कर्म है।

(2) स्वतंत्रता का सम्मान – हमें अपनी स्वतंत्रता के साथ दूसरों की स्वतंत्रता का सम्मान भी करना चाहिए। काण्ट के अनुसार मनुष्यता को साध्य मानना चाहिए कभी भी साधन नहीं बनाना चाहिए। इस दृष्टि से किसी को दास बनाना शोषण करना अनैतिक है।

(3) सम्पत्ति का सम्मान – हमे जिस प्रकार अपने निजी धन के उपयोग का अधिकार है। ऐसे ही दूसरों की सम्पत्ति को छल या चोरी से प्राप्त न करना हमारा नैतिक कर्तव्य है।

(4) सामाजिक व्यवस्था का सम्मान – हमे सामाजिक व्यवस्था अधिकार प्रदान करती है इसलिए इस व्यवस्था एवं इसकी संस्थाओं को बनाये रखने में सहयोग करना हमारा कर्तव्य है

(5) सत्य का सम्मान – प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक दायित्व है कि वह सत्यभाषी हो, मिथ्या भाषण न

करे। इस प्रकार का आचरण उसके विचार, वचन व कर्म का सामान्जस्य प्रदान करेगा और समाज में सकारात्मक योगदान होगा।

(6) प्रगति में सम्मान – मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है कि वह स्वयं की एवं समाज की प्रगति में आस्था रखने के साथ इस हेतु प्रयास भी करे।

इस प्रकार से कुछ मूल कर्तव्यों पर विचार किया जा सकता है परन्तु इन्हें निश्चित करना संभव नहीं है। सामान्य परिस्थितियों में प्रत्येक समय और स्थान पर कुछ कर्तव्य सभी मनुष्यों के लिए अनिवार्य स्वीकारे जाते है जैसे – सत्य बोलना, चोरी न करना, वचन पूरा करना, सबके प्रति करूणा व स्नेह रखना आदि, ये सार्वभौमिक कर्तव्य कहलाते हैं। इनका उल्लंघन सिर्फ विशेष परिस्थिति में ही स्वीकार्य होता है।

4.1.5 अधिकारों एवं कर्तव्यों में सम्बन्ध

कर्तव्य व अधिकार दोनों की सार्थकता सामाजिक जीवन पर निर्भर है। समाज से अलग न अधिकार की बात की जा सकती है और न ही कर्तव्यों को समझा जा सकता है। कर्तव्य व अधिकार परस्पर पूरक हैं। प्रत्येक अधिकार अपने साथ बाध्यता लाता है। जैसे यदि हमें सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार है तो यह बाध्यता भी है कि हम दूसरों की सम्पत्ति छल से प्राप्त न करें। यदि विचारों को अभिव्यक्त करने का अधिकार प्राप्त होता है तो यह भी नैतिक बाध्यता है कि हम दूसरों के विचार व भावनाओं का भी आदर करें। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य अलग–अलग करके नहीं देखे जा सकते । जहाँ एक अधिकार हमें प्राप्त होता है तो उसकी रक्षा करना दूसरे के लिए कर्तव्य हो जाता है तथा दूसरे का जहाँ अधिकार होता है उसका सम्मान करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। अधिकार व कर्तव्य एक दूसरे पर आश्रित हैं परन्तु ऐसा नहीं है कि हम कर्तव्यों के लिए अधिकारों की बलि दे दें। कुछ मूल अधिकार ऐसे है जिनका उपयोग करके हम अपना स्वतन्त्र एवं गरिमापूर्ण विकास कर सकते हैं। यदि हम अपनी स्वतंत्रता व गरिमा का हक प्राप्त नहीं कर सकते तो समाज के समुचित विकास में अपना वास्तविक योगदान भी नहीं दे पाते। समाज में अन्याय व शोषण का सहयोगी बनते हुए इन्हें सहन करते हुए जीवन जीना नैतिक दृष्टि से अनुचित है।

कर्तव्य व अधिकार में घनिष्ठ संबंध हैं परन्तु उनमें भेद भी हैं। कर्तव्य का उद्देश्य अपना हित नहीं है दूसरों का हित है। कर्तव्य समाज द्वारा व्यक्ति से ऐसे कार्यों की मांग है जिसमें वह स्वेच्छा से अपनी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों पर बंधन लगाता है, उन्हें सीमित करता है। जबकि अधिकार स्वयं के हित से सम्बन्धित है जो अपने विकास के लिए समाज से की गई उचित मांग है।

4.02 संकल्प की स्वतन्त्रता एवं नैतिक उत्तरदायित्व

अधिकार एवं कर्तव्यों की बात मनुष्यों के संदर्भ में ही प्रमुखतः विचार की जाती है। यद्यपि हम पशु अधिकार (Animal right) की चर्चा भी समाज में पाते हैं परन्तु पशुओं के सम्बन्ध में कर्तव्यों की बात नहीं की जाती। ऐसा क्यों है?दरअसल मनुष्य ही वह एकमात्र प्राणी है जिसे नैतिक कर्ता कहा जाता है जिसके दो कारण हैं– (1) उसके द्वारा किये गये कर्मो का अन्य मनुष्यो, जीवों एवं भौतिक वस्तुओं पर प्रभाव पड़ता है। (2) मनुष्य अपने कर्मों को इस रूप में करने को भी स्वतंत्र है कि यह प्रभाव किसी के लिए नुकसानदायक न हो। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है यद्यपि उसमें संवेग व इच्छाएँ भी पायी जाती है परन्तु वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति अन्य प्राणियों की भाँति नहीं करता। सभी जीव–जन्तु अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने परिवेश से करते है। उनका व्यवहार एक जैसा होता है। गाय का व्यवहार, चिड़िया व्यवहार उनकी प्रजाति के अनुरूप होता है परन्तु मनुष्य प्रजाति के सन्दर्भ में इस प्रकार की एकरूपता नहीं पाते। इसका कारण है कि मनुष्य एक ऐसा जीव है जो आत्मनिर्धारित है अर्थात् वह अपने कर्मों को करने या न करने के लिए स्वतन्त्र है। हम मनुष्य के कर्मो को दो श्रेणी में बांटते हैं–

(1) अनैच्छिक कर्म – ये एच्छिक क्रियाओं का आधार मानी जाती है ये मूल प्रवृत्तिजन्य, स्वतःचालित शारीरिक क्रियाएं अथवा ऐसी क्रियाएं है जिसमें मनुष्य के संकल्प की भूमिका नहीं होती है। इनके होने तथा परिणामों पर मनुष्य का नियन्त्रण नहीं होता और इसके लिए मनुष्य को उत्तरदायी भी नहीं माना जाता।

(2) ऐच्छिक कर्म – ऐच्छिक कर्म मनुष्य के संकल्पात्मक कर्म है जिन्हें करने अथवा नहीं करने के लिए

वह स्वतन्त्र होता है। मनुष्य जान बूझकर, एक से अधिक विकल्पों (options) में से चुनाव करते हुए, उद्देश्य या प्रयोजन को जानते हुए उसे करता है। इस प्रकार इन कर्मों के परिणाम का नियन्त्रण स्वतन्त्र इच्छा से उसे चुनने या न चुनने पर आधारित होता है। इस प्रकार के कर्मों के लिए मनुष्य को उत्तरदायी माना जाता है और एच्छिक कर्मों का ही नैतिक मूल्यांकन किया जाता है।

नैतिक मूल्यांकन के अन्तर्गत विचार किया जाता है कि अमुक कर्म शुभ है–अशुभ है, उचित है–अनुचित है, इत्यादि। इस प्रकार एच्छिक कर्म का आधार मनुष्य के संकल्प का स्वतन्त्र स्वरूप है और यही उसके नैतिक उत्तरदायित्व का आधार है।

4.2.1 संकल्प की स्वतंत्रता

मनुष्य बौद्धिक प्राणी होने के साथ–साथ संवेग, इच्छाएँ व मूल प्रवृत्तियाँ रखता है, परन्तु ये संवेग इच्छाएँ एवं प्रवृत्तियाँ संकल्प से निर्धारित और नियमित की जा सकती है। जैसे हम अपनी भूख को नियन्त्रित कर सकते हैं, अपने क्रोध पर काबू प्राप्त कर सकते हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों में संकल्प की भूमिका होती है। संकल्प की अनुपस्थिति में मनुष्य पशु के जैसा या उससे भी बुरा व्यवहार कर सकता है। संकल्प विचार या बुद्धि के आधार पर किया जाने वाला दृढ़ निश्चय होता है जो हमारे कर्म में फलीभूत होता है। यह मनुष्य में विद्यमान नियामक शक्ति है जिसे अन्तर्वस्तु भावनाओं व इच्छाओं से प्राप्त होती है यह मात्र उन्हें नियमित व नियन्त्रित करता है। उचित या उपर्युक्त ढंग से नियमन व नियंत्रण का अभ्यास ही शुभ संकल्प माना जाता है। इस प्रकार संकल्प की स्वतंत्रता मनुष्य की वह शक्ति है जिसका उपयोग कर वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से किसी कर्म को करने या नहीं करने का चुनाव कर सकता है। यदि मनुष्य किसी विवशता या बाध्यतावश कोई कर्म करता है तो उसे स्वतन्त्र संकल्प पर आधारित नहीं माना जाता।

संकल्प की स्वतंत्रता को नीतिशास्त्र का मूल आधार माना जाता है क्योंकि हमारे समस्त कर्तव्य सम्बन्धी निर्णयों का आधार यही शक्ति है। नीतिशास्त्र की भाषा वर्णनात्मक नहीं होती। हम ऐसा नहीं कहते मनुष्य सत्य बोलता है। हम कहते है मनुष्य को सत्य बोलना चाहिए। अतः नैतिक भाषा "है" (is) पर नहीं "चाहिए" (ought) पर आधारित है, क्योंकि मनुष्य सत्य बोलने अथवा नहीं बोलने के लिए स्वतन्त्र है। वह चाहे तो अपने को सत्य बोलने से रोक सकता है।

संकल्प की स्वतंत्रा के लिए कुछ अनिवार्य शर्ते है जिनके बिना मनुष्य के संकल्प को स्वतंत्र नहीं माना जा सकता। ये शर्ते इस प्रकार से है–

(1) कर्म करने की क्षमता– मनुष्य को उन्ही कर्मों को करने के लिए स्वतन्त्र माना जाता है जिनके अनुरूप उसमें शारीरिक व बौद्धिक क्षमता हो। जैसे – हम किसी डूबते हुए बच्चे को बचाने के लिए उस व्यक्ति को दोष नहीं दे सकते जो तैरना नहीं जानता।

(2) उद्देश्यपूर्ण कर्म – हम किसी ऐसे व्यक्ति को अनुचित कर्म का दोषी नहीं मान सकते जिसे उस कर्म के संबंध में पूरी जानकारी न हो, ना ही उसने जानबूझकर उद्देश्य से प्रेरित होकर वह कर्म किया हो।

जैसे – किसी अधिकारी को कर्मचारी के बीमार होने की जानकारी ना हो और वह उसे शारीरिक श्रम से सम्बंधित जिम्मेदारी दे दे।

(3) विकल्पों की उपस्थिति – मनुष्य वास्तव में कर्म करने के लिए तभी स्वतन्त्र माना जाता है जब उसके पास विकल्प हो। यदि विकल्प का अभाव हो तो परिस्थिति की बाध्यता से वह जो कर्म करता है उसका दोषी उसे नहीं माना जा सकता। जैसे – आत्मरक्षा के लिए कोई जीव हिंसा हो जाती है तो मनुष्य को उसका दोषी नहीं माना जा सकता है।

4.2.2 नैतिक उत्तरदायित्व

संकल्प की स्वतंत्रता की उपर्युक्त शर्तें यह स्पष्ट करती हैं कि मनुष्य को नैतिक रूप से उत्तरदायी कब ठहराया जा सकता है। संकल्प की स्वतंत्रता में नैतिक आचरण की शर्त स्वीकारी जाती है। मनुष्य समाज में जो आचरण करता है वह उसके द्वारा चुने गए ऐच्छिक कर्मों का ही फल है। ऐच्छिक कर्मों के एक निश्चित रूप के चुनाव से आदतों का निर्माण होता है। ये आदतें अच्छी अथवा बुरी दोनों प्रकार की हो

सकती हैं। शुभ कार्य करने की आदत को सद्‌गुण कहा जाता है। सद्‌गुण चरित्र की उत्तमता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति अपने चरित्र एवं आदतों के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी होता है।

उत्तरदायित्व किसी कर्म से सम्बंधित व्यक्ति की जिम्मेदारी है जो कर्म के अनुकूल उत्तर प्राप्त न होने पर व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से दोषी मानती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्तरदायित्व को नैतिक उत्तरदायित्व तभी कहा जायेगा जब वह संकल्प की स्वतंत्रता से सम्बंधित तीनों शर्तों को पूरा करता हो। उक्त शर्तो के अभाव में किसी व्यक्ति से जिम्मेदारी की अपेक्षा करना उचित नहीं है। जैसे छोटे बच्चे जो अबोध होते है किसी के घर से कोई चीज बिना पूछे ले आते है तो उसे चोरी (अनैतिक कर्म) नहीं कहा जा सकता। शिक्षा का अवसर नहीं मिलने वाले बच्चे को पढ़ाई नहीं करने का दोषी नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार नैतिक उत्तरदायित्व संकल्प की स्वतन्त्रता से अनिवार्यतः सम्बन्धित वह नैतिक प्रत्यय है जो व्यक्ति से अपने प्रति एवं अन्य व्यक्तियों तथा सामाजिक हित के प्रति नैतिक कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन है।

4.2.3 नैतिक उत्तरदायित्व में सन्निहित संकल्प की स्वतंत्रता का स्वरूप –

मनुष्य अपने ऐच्छिक कर्मों के चुनाव में स्वतन्त्र है और वह शुभ आदतों या शुभ कर्मों के अभ्यास से सद्‌गुणी बनता है, परन्तु इस सद्‌गुणी प्रवृत्ति अथवा दुर्गुणी प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान संकल्प की स्वतन्त्रता का स्वरूप समझने के लिए दो प्रकार के सिद्धान्त हैं–

(1) संकल्प की स्वतंत्रता अनियन्त्रित है व उद्‌देश्यहीन चुनाव भी कर सकती है। उसका सम्बंध अतीत् में किये जा रहे कर्मो से नहीं है। इस प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता में आकस्मिक कर्म का चुनाव संभव है। इसे अनियन्त्रणवाद कहते है।

यदि इस सिद्धान्त को हम स्वीकार करते है तो नैतिक उत्तरदायित्व की बात नहीं कर सकते, क्योंकि इसके अनुसार तो चुनाव पूर्णतः अनिश्चित है स्वछन्द है।

(2) संकल्प की स्वतंत्रता पूर्णतः नियंत्रित है मनुष्य का आनुवांशिक व्यवहार, परिस्थितियाँ, भौतिक व सामाजिक वातावरण उसके द्वारा चुने गए कर्म का कारण है। इस प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता होते हुए भी निश्चित कारणों के आधार पर व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित है। इसे नियंत्रणवाद कहते है।

यदि इस सिद्धान्त को भी हम स्वीकार करते हैं तो नैतिक उत्तरदायित्व को नहीं समझा जा सकता क्योंकि कर्म का चुनाव व्यक्ति से बाहर स्थित कारणों से निर्धारित है।

संकल्प की स्वतंत्रता को उक्त दोनो सिद्धान्तों से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ आत्मनियंत्रण है। व्यक्ति जब कर्ता होता है तो परिस्थिति परिणाम इत्यादि का पूर्ण विश्लेषण करता है उसे कर्म के प्रयोजन की स्पष्टता होती है। समाज के व्यापक हित या नैतिक आदर्श के उददे्श्य का उसे ज्ञान होता है। उसके सामने नैतिक व अनैतिक कार्य के चुनाव की स्वतंत्रता होती है फिर भी वह स्वतंत्र संकल्प से नैतिक कर्म का चुनाव करता है यह आत्मनियंत्रण है। आत्मनियंत्रण का अर्थ है व्यक्ति अपने द्वारा नियंत्रित है अपने चरित्र निर्माण तथा सदाचार का निर्धारण स्वयं उसके चुनाव का परिणाम है। इसमें न आकस्मिकता है और न निश्चितता है। चुनाव का अभ्यास उसके चरित्र को संगठित करता है जिसके आधार पर उसके व्यवहार से सम्बन्धित अनुमान किया जा सकता है। जैसे – महात्मा गाँधी के अहिंसा के दृढ पालन के आधार पर उनके कार्यों एवं वचनों की व्याख्या की जा सकती है।

4.03 दण्ड के सिद्धान्त

व्यक्ति और समाज परस्पर पूरक है। उनके मध्य एक नैतिक व्यवस्था है, जिसकी पालना हेतु कानून व्यवस्था स्थापित की जाती है। राज्य की कानून व्यवस्था का आधार नैतिक ही होना चाहिए अन्यथा कानून अपना शुभत्व खो देता है। चूंकि समाज में सभी व्यक्तियों का नैतिक विकास समान नहीं होता इसलिए अच्छे–बुरे दोनों प्रकार के व्यक्ति समाज में रहते है। अच्छे–बुरे का तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्तियों के ये दो प्रकार है उसका अर्थ है समाज के हित की दृष्टि से अच्छाई में सहायता करने वाला व्यक्ति का कर्म अच्छा है तथा बुराई में वृद्धि करने वाला कर्म बुरा है। इन कार्यों के चुनाव के आधार पर व्यक्ति के चरित्र को अच्छा या बुरा कहा जाता है और चरित्र व्यक्ति, अपने अभ्यास से अर्जित करता है।

ऐसा नहीं है कि एक बार जो चरित्र बन गया वह सदैव ऐसा ही रहेगा। मनुष्य के पास संकल्प की स्वतंत्रता है वह अपनी भूल को सुधार सकता है।। इस प्रकार एक बुरे चरित्र का व्यक्ति भी चाहे तो अच्छा हो सकता है और अच्छा व्यक्ति भी लापरवाही व कुसंगति में बुराई कर सकता है। दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति को बुराई करने से रोकना ही होता है। यदि दण्ड की व्यवस्था न हो तो अव्यवस्था एवं अशुभ के बढ़ने की प्रवृत्ति रहती है, इसलिए सामाजिक व्यवस्था के लिये दण्ड को वांछनीय माना गया है। इसी दृष्टि से मनुस्मृति में दण्ड को धर्म कहा गया है क्योंकि दण्ड सभी का रक्षक है।

4.3.1 दण्ड की परिभाषा एवं उसका स्वरूप

''अपराध करने अर्थात् नियम के विरूद्ध जान बूझकर कार्य करने वाले व्यक्ति को नियमानुसार किसी प्रकार से शारीरिक व मानसिक प्रताड़ना ही दण्ड है।''

इस प्रकार दण्ड का सम्बन्ध अपराध से है और अपराध नीति विरूद्ध कार्य है। सभी अपराध एक ही स्तर के नहीं होते। कर्म का उद्देश्य और परिणाम अपराध के स्तर को निर्धारित करते हैं। अतः दण्ड का निर्धारण व्यक्ति के कर्म के उद्देश्य एवं परिणाम पर दृष्टि रखकर ही तय किया जाता है। दण्ड शारीरिक या मानसिक कष्ट के रूप में दिया जा सकता है, जिसका मूल उद्देश्य व्यक्ति को उसके द्वारा किये गये अनुचित कार्य के बोध कराने के साथ सामाजिक व्यवस्था की रक्षा करना भी होता है।

दण्ड का नैतिक आधार है क्योंकि यह व्यक्ति के संकल्प की स्वतंत्रता एवं नैतिक उत्तरदायित्व से जुड़ा हुआ है। हम अपने ऐच्छिक कर्मों के चुनाव में स्वतंत्र है परन्तु इन कर्मों के परिणाम पर विचार करना भी हमारा नैतिक कर्तव्य है। यदि हम बिना विचार किये कानून तोड़ते हैं तो दोष हमारा है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था का सम्मान एवं सत्य का सम्मान हमारे मूल नैतिक कर्तव्य है। अज्ञानवश भूल हो जाना तथा विचार ही ना करना भिन्न प्रकार के कर्म है। अज्ञानवश किसी व्यक्ति से भूल हो जाती है जैसे – अशिक्षित व्यक्ति दवाई की शीशी पर लिखा नाम व तिथि नहीं पढ़ सकने के कारण मरीज को दवाई देने में गलती कर देता है तो वह नैतिक दृष्टि से दोषी नहीं है परन्तु जो व्यक्ति दवाई की शीशी पर नाम व तिथि पढ़ने को गम्भीरता से नहीं लेता और लापरवाह रहते हुए मरीज को दवाई पिला देता है तो उसका कर्म नैतिक दृष्टि से अनुचित है। जानबूझकर किसी को गलत दवाई पिला देना अपराध है जिसके लिए दण्ड आवश्यक है। दण्ड का अर्थ व्यापक है इसमें शारीरिक कष्ट या मानसिक कष्ट पहुँचाना ही उद्देश्य नहीं है। अपराध को रोकना, अपराधी को उसकी गलती की सजा देना तथा उसे भविष्य में ऐसी गलती करने से बचाना भी इसके उद्देश्य है। इन्हीं आधारों पर दण्ड के तीन सिद्धान्त स्वीकारे गए है–

(1) प्रतिरोधात्मक (2) सुधारात्मक (3) प्रतिकारात्मक / प्रतिशोधात्मक

4.3.2 प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive Theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य भविष्य में दण्ड को रोकना है। यहाँ किसी व्यक्ति को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि उससे सबक लेकर अन्य कोई भी इस तरह का अपराध करने का प्रयास न करे। यह प्रतिरोधक चेतावनी के रूप में दिया जाता है। इस सिद्धान्त में अपराध को रोकने के उद्देश्य से कठोर दण्ड भी उचित माना जाता है। जैसे – चोरी के अपराध में मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता है। यहाँ दण्ड चोरी करने की सजा नहीं है बल्कि भविष्य में कोई चोरी करने का दुस्साहस न करे इसलिये सजा दी जाती है।

आलोचना – दण्ड का यह सिद्धान्त संतोषप्रद नहीं माना जाता क्योंकि – (1) यह व्यक्ति का प्रयोग अन्य लोगों को चेतावनी देने के साधन के रूप में करता है। (2) इस दृष्टि से व्यक्ति को उसके दण्ड के अनुपात से ज्यादा भी दण्ड देना उचित मान लिया जाता है जो न्याय संगत नहीं है। (3) यह सिद्धान्त अपराधी को सुधरने का कोई अवसर नहीं देता।

4.3.3 सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य अपराधी के चरित्र में सुधार लाना है। आधुनिक युग में यह लोकप्रिय सिद्धान्त है जिसमें दण्ड अपराधी के हित में दिया जाता है। यह सिद्धांत इस दृष्टिकोण पर आधारित है कि अपराध की मनोवृत्ति प्रतिकूल सामाजिक स्थितियों में निर्मित होती है। व्यक्ति का अपराधी स्वभाव इस प्रकार की परिस्थितियों में रहने से होता है यदि उसे उपयुक्त परिस्थति एवं मनोचिकित्सा

उपलब्ध करवायी जाय तो उसमें सुधार लाया जा सकता है। यह सिद्धान्त मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुरूप है तथा मृत्युदण्ड को किसी भी स्थिति में स्वीकार नही करता।

आलोचना – यद्यपि यह सिद्धान्त व्यक्ति की गरिमा की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है परन्तु (1) कई बार देखा जाता है कि इसके मृदु स्वभाव का फायदा उठाकर अपराधी समाज को हानि पहुँचाते हैं। (2) प्रत्येक अपराध प्रतिकूल परिस्थितियों व मनोवैज्ञानिक कारणों से नहीं होता कुछ व्यक्तियों में स्वार्थ व लालच की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है। (3) क्रूरतम अपराध की स्थिति में इस सिद्धान्त की अपेक्षा प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त अधिक उपर्युक्त प्रतीत होता है।

4.3.4 प्रतिकारात्मक / प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)

इस सिद्धान्त का उद्देश्य नैतिक नियम की प्रभुता की रक्षा करना है इसलिए नियम भंग करने वाले अपराधी को उसके अपराध के अनुसार दण्ड भुगतना न्यायसंगत है। अरस्तु ने दण्ड को ऋणात्मक पुरुस्कार माना है। जो मनुष्य जान बूझकर नैतिक नियम को भंग करता है वह ऋणात्मक या निषेधात्मक पुरूस्कार का अधिकारी है। काण्ट व हेगेल भी इस सिद्धान्त को स्वीकारते है। इस सिद्धान्त में अपराध की गम्भीरता के अनुरूप दण्ड तय किया जाता है। यह आँख के बदले आँख और हाथ के बदले हाथ, इस बदले की भावना पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार हत्या के लिए मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के दो स्वरूप है–

(1) कठोर–यह मत दण्ड को अपराध के अनुपात में देने की बात करता है यदि अपराध गम्भीर है तो दण्ड कठोर मिलना चाहिए। हल्का है तो दण्ड भी हल्का होना चाहिए।

(2) मृदु–इस मत के अनुसार दण्ड देते समय अपराधी की परिस्थितियों पर भी विचार करना चाहिए। जैसे – अपराधी की आयु, उत्तेजक परिस्थितियाँ, अपराध का कारण देखकर दण्ड का स्वरूप तय करना चाहिए।

आलोचना –

(1) यह सिद्धान्त बदले की भावना पर आधारित है। प्रतिशोध को नैतिक नहीं माना जा सकता।

(2) इस सिद्धान्त में अपराधी के लिए क्षमा का स्थान नहीं है।

(3) यह सिद्धान्त नैतिक नियम को मनुष्य से उपर स्थान देता है। जिसे हर परिस्थिति में उचित सिद्ध नहीं किया जा सकता।

4.3.5 मूल्यांकन

दण्ड के उपर्युक्त तीनों ही सिद्धान्त आंशिक रूप से सन्तोषजनक हैं। ये परस्पर पूरक सिद्धान्त हैं। दण्ड के औचित्य को स्वीकार करने में तीनों ही स्थितियाँ होती हैं– अन्य व्यक्तियों को अपराध करने से रोकना, स्वयं अपराधी के चरित्र में सुधार करना तथा बुरे कर्मो का उचित फल देना। जब तक मनुष्य समाज में जानबूझकर नियम विरूद्ध कार्य करेगें और दूसरों के अधिकारों को चोट पहुँचाएंगे दण्ड की आवश्यकता समाज में बनी रहेगी। मृत्युदण्ड का समर्थन प्रतिशोधात्मक व प्रतिकारात्मक दोनों सिद्वान्त करते है सिर्फ सुधारात्मक सिद्धान्त इसका विरोध करता है। कई देश मृत्युदण्ड की व्यवस्था समाप्त कर चुके है परन्तु सामाजिक व्यवस्था के लिए जघन्य अपराध करने वालों के लिए इसे न्यायसंगत भी स्वीकारा जाता है।

बहुविकल्पात्मक

(1) सहज (Instinctive) व्यवहार से संचालित होते हैं–
(अ) अधिकार (ब) मनुष्य (स) पशु (द) दण्ड

(2) अधिकार एवं कर्तव्य सार्थक हैं–
(अ) अकेले मनुष्य के लिए (ब) आतंक फैलाने वाले के लिए
(स) पशु–पक्षियों के लिए (द) सामाजिक जीवन जीने वाले मनुष्यों के लिए

(3) अधिकार दिये जाते हैं–
(अ) बिना शर्त (ब) आदेश रूप
(स) समाज हित की शर्त पर (द) न्यायालय से मांगने पर

(4) व्यक्ति को सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यकता होती है–

(अ) समाज की (ब) दोस्तों की

(स) तकनीक की (द) भौतिक पदार्थों की

(5) समाजिक व्यवस्था का सम्मान–

(अ) अधिकार को बाधित करता है (ब) मूल कर्तव्य है

(स) रूढ़ि है (द) आधुनिकता के विपरीत है

(6) प्रत्येक अधिकार अपने साथ–

(अ) दुःख लाता है (ब) खुशी लाता है

(स) सुस्त बनाता है (द) कर्त्तव्य की बाध्यता लाता है

(7) मनुष्य की आदतें हैं–

(अ) ऐच्छिक कर्म (ब) अनैच्छिक कर्म

(स) अव्यवस्थित कर्म (द) पूर्वजन्म के कर्मो का फल

(8) संकल्प की स्वतंत्रता का उपयोग कब नहीं हो सकता–

(अ) कर्म करने की क्षमता होने पर (ब) कर्म के सम्बन्ध में उद्देश्य की जानकारी होने पर

(स) विकल्पों के अभाव में (द) उपर्युक्त सभी स्थितियों में

(9) 'तुम्हें भेड़ चुराने के लिए दण्ड नहीं दिया जा रहा बल्कि इसलिए दिया जा रहा है कि भविष्य में भेड़े चोरी न हो।' कथन कौनसे सिद्धान्त का समर्थन करता है–

(अ) प्रतिरोधात्मक (ब) प्रतिकारात्मक

(स) सुधारात्मक (द) उपर्युक्त में से काई नहीं

(10) 'दण्ड ऋणात्मक पुरूस्कार है।' कथन का समर्थन करने वाला सिद्धान्त है–

(अ) सुधारात्मक (ब) प्रतिकारात्मक (स) प्रतिरोधात्मक (द) उपर्युक्त सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) आचरण क्या है?

(2) नैतिक कर्ता किसे कहा जा सकता है?

(3) अधिकार को परिभाषित कीजिये।

(4) कर्त्तव्य की परिभाषा दीजिये।

(5) जीने का अधिकार क्या है?

(6) सार्वभौमिक कर्तव्य किसे कहा जा सकता है?

(7) मूल अधिकार क्या है?

(8) ऐच्छिक कर्म क्या है?

(9) संकल्प क्या है?

(10) आत्मनियंत्रण का क्या अर्थ है?

(11) अपराध क्या होता है?

(12) दण्ड के सिद्धान्तों के नाम लिखिये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

(1) व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है?

(2) 'अधिकार और कर्तव्य सापेक्ष धारणाएँ है।' समझाइये।

(3) कानूनी अधिकार व नैतिक अधिकार में क्या अन्तर है?

(4) समझौते की पूर्ति के अधिकार को समझाइये।

(5) क्या आप मानते है जीवन का सम्मान हमारा मूल कर्तव्य है?समझाइये।

(6) कर्तव्य व उचित कर्म में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

(7) सार्वभौमिक कर्तव्य किसे कहा जा सकता है?उदाहरण सहित समझाइये।
(8) ऐच्छिक व अनैच्छिक कर्म में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
(9) नैतिक उत्तरदायित्व को स्पष्ट कीजिये।
(10) अनियन्त्रणवाद व नियन्त्रणवाद को समझाइये।

निबन्धात्मक प्रश्न

(1) अधिकार एवं कर्तव्य के मध्य सम्बन्ध को समझाइये।
(2) मूल अधिकार किसे कहते है?मूल नैतिक अधिकारों को समझाइये।
(3) मूल नैतिक कर्तव्यों के रूप में कौनसे कर्तव्य स्वीकारे गए है। वर्णन कीजिये।
(4) संकल्प की स्वतन्त्रता के स्वरूप एवं मूल शर्तो को समझाइये।
(5) संकल्प की स्वतन्त्रता व नैतिक उत्तरदायित्व के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिये।
(6) दण्ड के सिद्धान्तों की गुण–दोषों सहित व्याख्या कीजिये।
(7) मृत्युदण्ड किस सिद्धान्त से अंसगत है?मृत्युदण्ड समाप्त करने के बारे में अपने विचार लिखिये।